एक और नचिकेता

तथा अन्य कविताएँ



जी० शकर कुरुप

एक और नचिकेता

तथा अन्य कविताएँ

[ओटक्कुषलकी परवर्ती रचनाएँ]

मूल कृति

जी० शंकर कुरुप

रूपान्तर

नारायण पिल्ले

लक्ष्मीचन्द्र जैन



भारतीय ज्ञानपीठ

प्रकाशन

ज्ञानपीठ लोकोदय ग्रन्थमाला हिन्दी ग्रन्थांक—२४१
सम्पादक एवं नियामक
लक्ष्मीचन्द्र जैन

Lokodaya Series Title No 241
EK AUR NACHIKETA
(Hindi Version of
G SHANKAR KURUP'S
Malyalam Poems)
Bharatiya Jnanpith
Publication
First Edition 1966
Price Rs 3.00

प्रधान कार्यालय
९, अलीपुर पार्क प्लेस, कलकत्ता-२७
प्रकाशन कार्यालय
दुर्गाकुण्ड मार्ग, वाराणसी-५
विक्रय-केन्द्र
३६२०/२१, नेताजी सुभाष मार्ग, दिल्ली-६
प्रथम संस्करण १९६६
मूल्य ३.००
सन्मति मुद्रणालय, वाराणसी-५

• • •

'एक और नचिकेता' महाकवि जी० शंकर कुरुपकी दस कविताओंका संग्रह है जिन्हें कविकी पुरस्कृत कृति 'ओटक्कुषल'-की परवर्ती कविताओंमें से चुना गया है। इस संग्रहमें कोई विशेष भूमिका नहीं जा रही है, क्योंकि कविको अपने काव्य विकास और अपनी कविताकी प्रकृतिके सम्बन्धमें जो कुछ कहना था वह 'ओटक्कुषल'के वक्तव्यमें उन्होंने कह दिया। यह कृति, कहना चाहिए यह संग्रह, एक प्रकारसे 'ओटक्कुषल'का सहयोगी प्रकाशन है क्योंकि 'ओटक्कुषल'में केवल वे ही कविताएँ संग्रहीत हैं जो १९५० तक लिखी गयी थीं, जब कि कुरुपके कृतित्वका समझने और उसका मूल्यांकन करनेके लिए परवर्ती काव्यकी जानकारी और अध्ययन आवश्यक है।

इसी दृष्टिसे इन कविताओंका चयन और संग्रह यहाँ प्रस्तुत है।

पुस्तकका मूल्य अधिक न बढ़े, इसलिए, 'ओटक्कुषल'की प्रकाशन पद्धतिसे भिन्न, इस संग्रहकी कविताओंका मूल मलयालम रूप नहीं दिया गया है। ओटक्कुषलमें वह इस-

लिए आवश्यक था कि जिस अनुवादके आधारपर कविके काव्यको हिन्दी जगत्के सामने प्रस्तुत किया गया है उसकी अगमता स्पष्ट रहे। एक ओर 'नचिकेता'के सम्बन्धमें इसी लिए वैसा पुनस्पष्टीकरण अनावश्यक हो गया है।

श्री गोविन्द नारायण पिल्लैका आभारी हूँ कि उनके द्वारा प्रस्तुत अनुवादके आम्पस रूपान्तर करनेमें विशेष सुविधा हुई।

प्रयत्न किया है कि कविके मूल भाव हिन्दी अनुवादमें अक्षुण्ण रूपमें आ जाय। जानता हूँ कृतिके साथ यदि पूरा न्याय नहीं हो सका है तो दोष श्री पिल्लैका नहीं मेरा है। यों अनुवादके माध्यमसे पूरा न्याय किसी कृतिके साथ यदा-कदा ही सम्भव होता है।

इस कृतिके पाठक आटवरुपल अवश्य पढ़ें यह अनुरोध है।

—लक्ष्मीचन्द्र जैन
सम्पादक, लोकोदय ग्रन्थमाला

सर्ग-गीत

चिन्तको, हट जाओ !
वाचालो, मौन साधो !
काल रूपी कलिन्दजा की कूल-भूमि मे
नील गगन रूपी विशाल कदम्ब तरु मे
तारक-सुमन विकस्वर हो सुशोभित हो रहे हैं।
उस तरु के पीछे खड़ा,
गम्भीर भावनाओ और प्रेम से आपूरित हो,
कोई—
सृष्टि और संहार के राग भेदो को
मादक स्वर मे आलाप रहा है।
कितना घोर है यह स्वरारोह !
कितना विलक्षण है यह अवरोह !
पृथ्वी की नील-सागर मेखला
खिसक रही है
तरलायित हो मुखर हो रही है।
अन्धकार का कुन्तल-बन्ध
विश्लथ हो बिखर रहा है।
निस्पन्दता को भी मुग्ध करनेवाले
इस राग को सुनकर,
बारी बारी से आनेवाली ऋतुओं की
भावभंगिमा का प्रदर्शन कर,
मेदिनी देवी नर्तन कर रही है।
और,

प्रतिपल परिवर्तित होते मुख-राग के साथ
सन्ध्याएँ मुग्ध मूर्छित-सी खड़ी हैं।
चिन्तको, हट जाओ !
वाचालो, मौन साधो !

आज मैं नवीन राग-संगीत की दिव्य टेक सुन रहा हूँ।
आज मैं सुन रहा हूँ वह अत्युदार टेक
—जिसमें मृत्यु की श्रुति निहित नहीं है।
समस्त गान्धार मण्डल,
राग की स्वर-लहरियों के स्पर्श से
जागृत हो, नृत्य रत है।
उमड़ते आह्लाद में तरंगित मेरा मन
तान खोजने की धुन में लीन है।
गीत की भाव-व्यंजना की खोज में आतुर वसुन्धरा,
अपने पद-न्यास,
अपने मुद्रा वर्ण,
अपने अलंकार
बार-बार बदल रही है।
प्रीति-मय राग-संगीत से झरता यह नृत्य
देखने के लिए
मेरे नयनों को कौतुक से खिलने दो
मुझे स्वर्ग में आ जाने दो
चिन्तको, हट जाओ !
वाचालो, मौन साधो !

—१९५०]

पथिक-गीत

ऊपर चमकनेवाले तारे !
बताओ
क्या दूर कहीं प्रभात दिखाई देता है ?
तुम्हारा प्यारा-प्यारा मुखमण्डल
किस अतिशय आनन्दातिरेक से प्रफुल्ल हो रहा है ?
हे पुलकप्रद !
मेरे ये जागे हुए प्राण
तेरे साथ आन्दोलित हो रहे हैं।
ओ प्यारे !
तेरे तरल नयनों में
यह स्मित रेखा की झलक है
या चमकते हुए आंसू की ?

धरती की धूल और स्वेद से दूर
ऊपर रहनेवाले !
तुम नहीं जान सकते
उस मन की प्यास को—
जो अन्धकार से अन्धकार की ओर
मरु प्रदेश से मरु प्रदेश की ओर
युगों से भटक रहा है।
मेरा यह ऊँट, पुराने काल की
स्मृतियों से खचित उन राहों पर शिथिल श्रान्त

चल रहा है, जहाँ
शोक गाथाओं का आलाप होता रहता है।

जहाँ आगे और पीछे
दायें और बायें
रुदन रोदन के अतिरिक्त
कुछ सुनाई नहीं देता।

इने गिने लोगों की तृष्णा बुझाने के लिए
बहुतों की आँखों में खुदाई की जा रही है,
किन्तु उनसे बहुत पानी के
खारेपन से
उन्हीं का कण्ठ सूखता जा रहा है—
उनके हृदय पिण्ड में,
आर्द्रता की नन्ही कणिका तक दिखाई नहीं देती!
शीतल सुरभित मन्द पवन की प्रतीक्षा करनेवाले
हम
आज व्याकुल हो छटपटा रहे हैं!
आज केवल वध-स्थलों से
रक्त की दुर्गन्धि से भरी हवा चल रही है।
न दूर और न पास
कहीं भी एक ऐसा मित्र दिखाई नहीं देता
जिसने मुखौटा न पहन रखा हो।
सब ओर,
रिपुओं तस्कर घातकों की परछाइयाँ
दिख रही हैं।

किन्तु,
मेरा यह ऊँट इसी रास्ते से होकर
जीवन का गुरुभार वहन कर भटक रहा है !—
कलह से दूर
आकाश की विशालता में
संहारक गर्जन को अनसुनी किये
वध स्थली को अनदेखा किये
अन्धकार से अनाक्रान्त हुए
चित्त को अचंचल रखे
यातना की दुर्गन्ध भरी सांसों से बचकर
न स्वयं दास होकर
न किसी को दास बनाकर।

हे मृण्यात्मन् !
मनुज की अश्रुधारा बिना पान किये
विश्व सृष्टि के प्रारम्भ से आज तक
स्थिर मन खड़े रहनेवाले
गगन का तम्बू खोलकर झाँको,
बताओ, दूर कहीं प्रभात दिखाई देता है ?
निरुपम स्नेह की लघु लहरियों से भरा
सरोवर कहीं दृष्टिपथ में आता है ?
क्या मेरे इस थके ऊँट का विश्राम देने के लिए
कोई शान्त-स्थली नहीं है ?

—१९५१]

अन्तर्दाह

संध्या की बहुरंगी कान्ति में
क्षितिज पर बिखरे नीरद-कण
जब पल्लवित हो उठे,
तब—
खोलकर
नील आकाश का मरकत वातायन
नीरव, निष्कम्प,
सरल-स्वच्छ हास्ययुक्त
अप्सरा-सी मुक्तमना, लास्यमयी—
शारदीया-साँझ के सौभाग्य से
उज्ज्वलित, गर्विता
तारिके !
तू आज भी यथापूर्व
आ रही है।
तेरे स्नेह तरल नयनों के अश्रुकण
प्राणों में पीकर मैं,
बेसुध हो जाता था निज अस्तित्व से।
किन्तु,
वे निमिष अब
दुर्लभ हो, दूर हैं
स्मृति रेखा के पार।
हाय, मैं [illegible] न करूँगा
उसी भाग्य अनुभव की ओर जाने का,

भावना मे डूबकर, उसी दिव्य आनन्द में,
निमज्जित होने का ।
न समझो कि मैं निरर्थक आत्म श्लाघा कर रहा हूँ।
न जाने, उन दिनों, कैसा लाघव था वातावरण मे
हरी-हरी तराइयां, अरुण विटप, और
पीले खेत !
स्वच्छ नीलिमा से आच्छादित प्रशस्त मैदान !
सब के सब—
मादक वायु की श्वासा से अनुप्राणित,
वे मेरे पद विन्यास से क्लान्त नहीं होते थे !
उस सौम्य रूप को निहार,
रम्यनाद को श्रवण कर
मेरा मन आनन्द आवेग से नाच उठता था ।
पारावतों के साथ पंख फैलाकर,
फूलों के साथ हवा में झूमकर,
झरना के हाथ मे हाथ डालकर,
गा-गाकर और
नाच-नाचकर जी भर—
मेरा तरुण हृदय
विहार करता था ।
हे सखि !
प्रचुर चाहे जितनी हो अंतर्दाह—
सुख-स्वादन न हो सकेगा अब उस मोहक गीत का !

तब था मैं सबका स्नेह भाजन—
विश्व मेरा गेह था,

फूल-तारे मित्र थे,
ऐसे में उतरकर आ खड़ी हुई तू
स्वर्गीय किरण-सी ऊँचे लोक से
मेरे उत्पल नयनों का किया तूने अभिवादन।
तेरे आलोक-तेज से छिटकती मौन रागिनियाँ—
भावपूर्ण, आर्द्र और हर्षमयी
ध्वनित कर गयी मन पथिक को,
जगा गयी ध्यानस्थ सत्य और सौंदर्य को।
छू निज आत्मिक सौष्ठव से,
बना गयी कवि—
मुझ जड़ मिट्टी के विकार-मात्र को।
लता की मेड़ से सटा मुकुलित कुसुम—
चमक उठा स्वयं तारक नक्षत्र सा।
काल के पथ पर चल सका न कोई पीछे,
खोया जो यात्री ने, वह सदा को खो गया।

यह शांत और सुंदर संहार नहीं तेरा,
मेरा यह विश्व है शोक से आक्रांत,
अजर और परिवर्तनशील।
होने यहाँ कांतिहीन, तुमसे अधिक प्रकाशवान्,
हो जाते हैं शुष्क तुमसे अधिक प्रफुल्लवदन,
सुख शांति के अधिक मांगो, प्रश्न हो जाते हैं
चिर विपण्ण अवसन्नता में।
दृष्टिगोचर होता यहीं दृश्य सब दिशाओं में
करुणा से गद्गदाक्रांत स्वर सुनाई देते हैं—
कहो फिर कैसे न हो चित्त जगदाक्रांत यहाँ?
है छिन्न शांति।

यदि तू भी आ जाये यहाँ
तो तेरी भी आत्मा हो जाये जडवत् एक ही दिन मे—
बन जायेगी मिट्टी का ढेला।
हाय, क्यो आ पडी यह काली छाया हमारे बीच ?
हाय, क्यो कुरेद गया क्रूर नख मेरी आखो को ?
हे स्वर्गनन्दिनी !
अनभिज्ञ हो तुम मर्त्यलोक की दुरवस्था से।
बनी रहो अपरिचित यो ही, यही मेरी इच्छा है।
यह भूमण्डल केवल घनीभूत वाष्प है,
और यह अन्तरिक्ष गरम नि श्वास है
काली चट्टाने जमे रक्त के ढेले है,
जीवित हैं यहा केवल दारिद्र, रोग और युद्ध।
कडवी ग घ व्याप्त है जीवन की जडो मे,
तनो मे और फूलो म।
नवजीवन प्रदान करनेवाले हाथ यहा गलते हैं
पृथ्वी पर अंकित स्वप्न विकृत हो मिटते हैं
घड जाती है परिष्कृति, सभ्यता, सस्कृति
यदि कभी खिलती भी है इधर उधर मरघट की राख म
या जगल मे उगे आक की फुनगी पर,
जनमती है पुन,
कि-तु,
पीली और जीण होने को अन्तत
शाश्वत है एक यहा—केवल दु ख शोक !
हे सखि !
मैं अपनी दु ख-कथा कहने नही आया हूँ,
आया हूँ तेरे पास आश्वासन की खोज मे
आत्मा है आकुल मेरी क्षितिज के छोर छूने को
तेरी दुलार भरी रश्मियो के सहारे,

किन्तु
क्यों पड़ने दें क्रूर यथार्थ के कोमिल हाथ
पास रहे हैं चाहे ओर से।
हे मेरी कौमार्य मित्र!
जानती है तू क्या
कितनी दूर है मुझसे अब।
तू स्वर्ग की पुत्री है—
और मैं?—मिट्टी की सन्तान,
तेरी परम्परा है चिर आनन्द-उल्लास की
और मेरी?— मर्मान्तक गहन विषाद की।

हे प्रिय!
काल के क्रूर हाथों में पड़कर
अगर तेरी स्वर्ण धातु भी अन्ततः सीसा बन जाती है,
इसलिए
मंगल कामना यही मेरी
कि,
जीवन के नवोन्मेष सचेतन—
शाश्वत हो लावण्य-सुषमा तेरी!

—१९५२]

एक और नचिकेता

'कौन हो वत्स ?'
उस स्निग्ध-सौम्य गम्भीर आकारवाले पुरुष ने
करुणार्द्र कण्ठ से प्रश्न किया ।
'माता पिता द्वारा बरसाये स्नेह से सुरभित,
स्वच्छ कौमार्य से समुदार (सिंचित)
जीवन पथ म विहार करने की वेला मे,
तुम,
क्या इस तरह फिसलकर गिर गये
और कैसे यहाँ आ गये ?
आह्लाद आनन्द के समय कोई नही सोचता
कि,
जीवन प्राण की पगडण्डी मृत्यु के किनारे किनारे
होकर जाती है । '

मैने आँखें झपकाकर चारो आर देखा—
क्रमश सब कुछ याद करने का प्रयत्न करने लगा ।
अब तो मुझ ज्वर नही – मेरी छाती मे दद नही,
क्या मुझे अकेला छोडकर मा भी चली गयी है,
जो मेरे माथे पर गरम गरम आँसू बरसाती हुई,
अब तक मेरी सेवा करती थी ?
यह तो सुदर चद्रकला की भाति दीप्त है,
वह मेरे सिरहाने रखे (मृत्यु) दीपक की कोर तो नही है ?

क्या मुझे खाट पर से उतार दिया गया है ?
नीले आकाश में छिटके हुए तारे
मेरे चारों ओर जिसर (शवयात्रा) अक्षत तो नहीं हैं ?
क्या दूर, बहुत दूर—
काँपती हुई और मुझे घूरती हुई पृथ्वी,
मेरी ओर बढ़ी आ रही है
और उसके कंधे से मयावरण खिसकता जा रहा है ?

'कौन हो बेटा ?'
मेरे ललाट पर अमृत सम सुखद हाथ रखकर
उस दिव्य पुरुष ने प्रश्न दोहराया।
थोड़ी दूर पर अन्धकार के रंगवाला महिष खड़ा है
जब वह अपने पिछले पैरों से मिट्टी कुरेदता है
तो दिशाओं के कन्धों पर सा-न्य धूलि गिरने लगती है।
शायद वही यात्रा पर जाने को उद्यत है ?
न हाथ में पाश है न दण्ड,
मुँह में भयानक दाँत भी नहीं हैं। नयन दया दीप्त हैं।
मैं आश्वस्त हुआ।
'हे मित्र, आप मेरे प्रति इतना सौहार्द भाव
रख रहे हैं कि मैं आपको
मित्र कहकर सम्बोधित करने का साहस पा गया हूँ।
आपके हाथ में न तो पाश है, और न भयानक शूल।
आपके विषय में संसार क्या-क्या कहता है ?'
देव ने मन्दस्मित वाणी में कहा—
'मैं प्राणियों की छाती में गड़ा हुआ शूल उखाड़ता हूँ
और पाश काट देता हूँ।
यद्यपि जीवन प्राणियों को हँसाता है,

किन्तु दु ख भी देना है—
और
स्वच्छन्द विहार की वेला मे ही बाँध देता है।'

मैंने बताया ।
दूर मिट्टी से बनी एक छोटी सी झोपडी म
मेरे माता पिता दु खी बैठे हैं
मैं उनके लिए प्राण हूँ—
न जाने उन्हे आश्वास कौन दिला रहा होगा ?
एक दिन उभरी हड्डियावाले मेरे पिता
अपने कन्धे पर हल रखे
मुरझाया चेहरा लिये खेत से लौटे
तो
बरामदे के खम्भ से पीठ टिकाये ।
उ मण (उद्विग्नमन) खडे हो गये ।
आखा मे आसू भरे मा खडी थी
उसने हठ किया कि उसी दिन कज चुरा देना चाहिए ।
पिता ने थोडी देर सोचा,
और फिर हल जमीन पर फका—
'एक छोटी-सी गाय को छोड,
बेचने को कुछ नही है ।
दो सेर चावल तक घर म नही है—
आज बच्चे की दवा तक नही खरीदी है ।
रात दिन परिश्रम कर रहा हूँ
तब भी कज व्रण की भाति बढ रहा है
चाद के टुकडे के समान
सुन्दर सुन्दर कन्या से सुशोभित

सूखी बियाणवाली यह गाय
मेरे बेटे के लिए प्यारी छोटी बहन है
इसे तो कसाई के हाथ बेचूँगा ? नहीं,
क़र्ज़ के बदले इसे ही दे दूँगा'—पिताजी ने कहा।
माँ ने दाँतों तले उँगली दबायी।

दीन शय्या पर लेटे लेटे
आँसुओं के घूँट पीते हुए
मैंने पूछा, 'आप मुझे किसके हाथों बेच देंगे ?'
'यम को'—आकस्मिक क्षोभ के कारण
विशुद्ध स्नेहशील पिता फूट पड़े।
मैंने सुना कि प्यारी गाय
उसके साथ जाने को तैयार नहीं है,
पीछे की ओर मुड़ रही है
और मैंने सुना—
कि वह क्रूर उसे लाठी से मार रहा है,
जिसे हमने फूल से भी नहीं मारा है।
पिता का पश्चात्ताप था—
माँ की पराभव की प्रतीति—
उस दिन किसी ने पकाया खाना तक नहीं खाया।

पानी की तरह
मेरा बुखार बढ़ गया,
और चकई की तरह
मेरी आँखों में घर की छत घूमने लगी।
मुझे लगा कि—

सारी दुनिया पीली पड़ गयी है
और मेरे पास बैठे हुए माता पिता
घूम घूमकर तिरोहित हो रहे हैं।
आवाज़ धीरे धीरे बन्द हो गयी
और मैं भँवर में चकरानेवाली सूखी लकड़ी की तरह
कहीं डूब गया।
उठा तो इस किनारे पर खड़ा हूँ,
उधर मेरे माता पिता
दुःख तप्त प्राणों के साथ बैठे हुए होंगे।

'—वत्स!
यह जीवन स्वयं एक प्रचण्ड आँधी है,
दाह से भरा महाज्वर है,
तुम इसी में लौट जाओ,
समय आ जाने पर
सुखमय विश्राम के लिए लौट आओ'—यम-यम ने कहा—
—यहाँ रोग नहीं, अस्वस्थता नहीं,
सम्पन्न वर्ग का भोग चापल्य नहीं,
और कर्ज़ का तक़ाज़ा भी नहीं,
है केवल शान्ति, शाश्वत शान्ति
तब भी
अब लोग मृत्यु का नाम सुनते ही
घबरा जाते हैं।
एक ही अचल वायु में
दुनिया में कई तरह की हवाएँ पैदा होती हैं,
निश्चल मृत्यु से सारे जीव पैदा होते हैं,
निश्चय ही, सब कुछ उसी में विलीन हो जाता है,

निश्चय ही अस्सी हाथ से अधिक ऊँचा है वह,
मैंने अपनी आँखों से नाप लिया है।
अगर काट लिया जाये तो
उसी से छायी जा सकती हैं
गाँव की सारी छतें,
या डाली जा सकती हैं
कड़ियें इनकी, ग्रामाधिकारिया क भव्य भवना म,
जैसी कि वे
आशा लगाये बैठे हैं मन म।
किन्तु, अब जीर्ण शीर्ण हो गया है
मेरा अपना यह काठ,
चाहने पर भी क्या मैं
पेड़ के काठ पर छेनी चला सकता हूँ ?

द्वार की सीढ़ी पर बैठी है मेरी जीवन संगिनी
झुक गयी है वह एकदम, झुर्रियाँ पड़ गयी हैं उसके पट पर।
तापें दागने पर भी वह सुन नहीं सकती,
खोज रही है, हाथों से टटोल रही है
सूखे पान का टुकड़ा, पुरानी सुपारी और सूखे चूने का टुकड़ा
हाँ, वह भी बूढ़ी हो गयी।
किन्तु, याद करता हूँ मैं वे दिन
जब वह खड़ी थी मेरे समीप प्रफुल्ल तरुण चम्पक सी
सीधा सुगठित शरीर लिये
और ताम्बूल रागपूरित अधरों पर मुसकान लिये
मर्जारत 'वेरिलता'[१] वल्लरी के समान
वे जाल, धूसर भवायुक्त
भटककर जा पहुँची पिछले दरवाजे पर

१ एक तरह की वल्लरी जिसकी कोपलें सफेद होती हैं और फूल व त लाल।

जो बुरी तरह से घुन गये थे।

अगर मैं उठ सकता तो रग रगकर आगे बढता,
हाय! वह हाथ, जो इस बूढे को सहारा दे सकता था
बूढा शिल्पी सिसक पडा।
(शायद उस स्मरण को मिटाने के लिए
पोछने लगा सूखे हाथो से
झुरियो भरा अपना ललाट)
अब मैं कुछ भी कर नही सकता,
फिर भी
अगर रेंगता-लँगडाता अपनी शिल्पशाला म जा बैठ पाता,
तो निश्चय ही मै
अपना छेनी और नपैनो का आनन्द लूटता।
आकाश मे लटके औंध चपक के समान है यह
ताम्र कलश मण्डित मनोहर मन्दिर,
काली लकडी मे से उकेरा गया
जिसे अपने हाथो बनाया था मैंने।
और उन हाथो से
जिन्हे मैंने स्वय छेनी पकडना सिखलाया,
मेरे बच्चे ने
उत्कीर्ण किया, सुनहले समुन्नत ध्वजस्तम्भ के ऊपर गरुड,
कैसा उडता हुआ सा बैठा—
लगता है ज्यो उसके पख अब भी चचल हैं!
कहते हैं—मैंने उससे ईर्ष्या की!
भला, यह कैसी बात!
किस पिता का मन गर्व से फूल नही जायेगा,
पुत्र की प्रशसा सुनकर?
हम वाँध सकते हैं हजारो घण्टो की जिह्वाएँ

मगर क्या बाँध सकता है कोई एक ही मुँह के
भीतर की जीभ ?
उस मन्दिर के
दोनों गोपुरों पर रखा था हमने
सागवान की लकड़ी का बना अष्ट दिक्पाल विग्रह।
एक तो उसी का बनाया हुआ था,
दूसरा खुद मैंने ही अपने हाथों से बनाया था।
कहते हैं, उसकी बनायी प्रतिमा
मेरी प्रतिमा से अधिक प्राणवान बनी।
क्या हुआ, अगर मेरा हाथ मात खा गया,
आखिर मेरा ही बेटा तो है—
जो विजयी हुआ।

मेरी आँखों के तारे की प्रशंसा
क्या मेरी ही प्रशंसा नहीं ?
कहते हैं, बेटे की प्रशंसा सुनकर
मेरा मुख मलिन हो गया था।
यह सच है कि मैं शिल्पी हूँ,
किन्तु क्या मैं बाप नहीं हूँ ?
लोग कहने लगे 'बूढ़ा खूब जानता है शिल्प और शास्त्र,
किन्तु शिल्प चातुरी उसके बेटे में अधिक है'—क्या हो गया है
इन ग्रामवासियों को।
शिल्पशाला में
काम करते थे हम दोनों पास पास बैठकर
किन्तु धीरे धीरे हमारे बीच में मौन बढ़ता गया।
लोग चाहे कुछ भी कहें
किन्तु क्या मैं उसका पिता उसके अनर्थ की कामना
कर सकता हूँ ?

चाहे वह कितना ही कुशल क्यों न हो,
उसने शिक्षा और अभ्यास अपने पिता से ही पाये हैं।
'जब चाँद उदित होता है
तो सूर्य छिप जाता है'—
क्यों उस बूढ़े नायर[1] ने ऐसा कहा ?
जब मैं उसके घर मिलने गया ?
मैंने बनायी एक यन्त्र पुतली, तमाशे के लिए
और स्थापित कर दिया उसे पुल के नीचे,
पुल के एक सिरे पर पैर रखते ही
वह मनोहर पुत्तलिका जल-देवता के समान
थिरकती हुई जलवितान से धीरे धीरे ऊपर उठती,
और जब आदमी पुल के बीच में पहुँचता
तो वह गुड़िया मुँह खोलकर उस पर थूक देती,
यात्री हक्का-बक्का रह जाता।
कितने विस्मित नेत्र आ जुटे
नदी के किनारे, इस विचित्र दृश्य को देखने के लिए।
अगर पौदा चन्दन का है
तो अवश्य ही महक फैला देगा रगड़ने पर,
मेरे बेटे ने भी तुरन्त अपनी कुशलता का नमूना दिखाया,
इसमें निन्दा की क्या बात थी ?
चार ही दिन के अन्दर
एक दूसरी पुत्तलिका उठी
लोगों की जिह्वा पर बेटे के नाम के साथ।
अजीब तमाशा था—
इस तरफ जब मेरी गुड़िया उठती थूकने के लिए
तो दूसरी तरफ उसकी गुड़िया का हाथ बढ़ता
मेरी गुड़िया ने मुँह खोला नहीं,

१ एक प्रसिद्ध मान्त्रिक।

कि एक चपत आ पड़ी उसके गाल पर !
मुझको लगा कि चपत मेरे ही गाल पर पड़ी है ।
क्या कभी आकाश में दो चाँद एक साथ रह सकते हैं ?
बेटा कुटिया छोड़कर चला गया,
उसकी मां रोती रही,
मेरा मन भूसी की तरह जलता रहा,
किन्तु की कला में मैंने कुछ भी नहीं कहा था !
जब मन्दिर में
नया गज पण्डाल बनाने का समय आया,
इसके लिए मुझे जाकर बुलाना पड़ेगा,
उस कीर्तिशाली बेटे को !
'बेटे से परामर्श लेकर
पण्डाल को खूब सुन्दर बनाओ'—
परकोटे के अन्दर कदम रखते ही तम्पुरान ने कहा था ।
सोचा क्यों न लौट चलूं,
किन्तु लौट नहीं सका ।
अब तक तो कभी किसी ने मुझसे नहीं कहा था
किसी दूसरे से परामर्श लेने के लिए !
कहते हैं—मुझमें ईर्ष्या जाग उठी !
क्या बेटे की प्रशस्ति में पिता का कोई साझा नहीं ?
क्या काठ का बढ़ई केवल काठ का ही होता है ?
पण्डाल ऊपर उठा
अधिकारियों के कौतुक के साथ-साथ,
अब उसके शिखरों के लिए मनोहर
कला शिल्प की जरूरत है ।

'इसे मैं उकेर लूँगा,
आप ऊपर का काम सँभाल लीजिए'
क्या गृह शिखर के शिल्प का दायित्व लेने के लिए

बेटे की अनुमति लेनी पड़ती है ?
नीचो चन्दन की लकड़ी पर
उत्कीर्ण कर रहे थे वे हाथ,
महालक्ष्मी देवी के मनोहर लीला-कमल।
ठीक ऊपर-ही-ऊपर
मैं तराश रहा था लकड़ी का बड़ा कीला
तलवार की धार सी चमकनेवाली बड़ी पैनी छेनी से।
उछल गयी अनजाने छेनी,
मैंने प्रार्थना की, मेरे बेटे के ऊपर न गिरे।
पलक मारते ही मैंने देखा—
छटपटा रहा है जमीन पर, मेरा बेटा
कट-सा गया है गला धड़ से
चारों तरफ लोगों की भीड़ इकट्ठी हो गयी,
सुई सी नुकीली आखें मेरे मुख पर पड़ी।
सीढ़ी पर तब क्या मेरा पैर जम सकता है ?
मैं नीचे गिर पड़ा।
कहते हैं, 'क्षमा कर देना' उसने कहा,
किन्तु मैंने नहीं सुना
कटे हुए रुधिरासिक्त कण्ठ पर
पड़े हुए वकिम केश,
घोर वेदना से पथरायी हुई आँखें,
जुदा नहीं होता मेरे मन के नेत्रों से
पल भर को भी वह रूप।
बुढ़िया मा को हँसते हुए नहीं देखा है
उस दिन से किसी ने।
गरम-गरम आसू भी
बह-बहकर समाप्त हो चुके हैं।

अगर कहूँ, यह हाथ का प्रमाद था,
तो कौन इस पर विश्वास करेगा ?
चाहे लोग कितना ही क्या न कहे—
पर, बूढ़ी माँ ! क्या कोई पिता ऐसा कर सकता है ?
वह मेरा बेटा
इस अन्धे की लकड़ी बनकर रहता !
अगर यह भयानक दुघटना नही होती ।
'नही होती ?'
रह-रहकर अन्त करण बोल उठता है 'नही करता'
अगर कहूँ— यह मेरे हाथो का प्रमाद मात्र था
तो कौन विश्वास करेगा ?
चाहे लोग कितना ही क्यो न कहे,
किन्तु, कोई भी पिता क्या ऐसा कर सकता है ?
फिर भी
न जाने, कौन मेरी छाती पर
रह रहकर हथौड़े से मार रहा है,
न जाने,
किस कीले को वहा से उखाड रहा है !
'क्या आँखो मे धूल की कोई कनी गिर गयी ?
पानी क्या बह रहा है ?'
'हा, इस घर की धूल साफ हुए बहुत दिन जो हो गये
पत्थर पर पान सुपारी कूटते हुए बूढी ने,
उस बूढे शिल्पी का मनोराज्य भग किया ।

—१९५५]

विश्वदर्शन

प्रतिक्षण विकसित होनेवाले, सनातन, सुन्दर, बिम्ब के
आदि स्पन्द,
तुझको प्रणाम,
तू अंकुरित होता है
अपने में,
तू प्रफुल्ल भी होता है
अपने में,
तेरे सर्जन संकल्प की चेतना के कारण
ये सहस्र नक्षत्रावलियाँ चमचमाती हैं,
स्पन्दित होती हैं।
प्रलय तेरा सम्पूर्ण संकुचन है
और, पुनर्विकास की प्रक्रिया ही
प्रकृति का प्रादुर्भाव है।
तेरे विकास का जो विस्तार है
वही यह महान् आकाश है।
तेरी विकासोन्मुखी प्रवृत्ति ही काल है,
कितने ही संकोच विकास बीत गये,
कितना ही गमनागमन क्यों न हो
फिर भी
यह स्पन्द अविराम ही रहता है।
इस अकथनीय स्पन्द की शक्ति के भँवरों में चक्रायित हो
असंख्य सूर्यों और नक्षत्रों के समूह
बह रहे हैं

फेन के छोटे छोटे बुदबुदों के समान,

इस नवीन सृजन का आरम्भ
चाहे जिस दिन भी हो,
हे मेरे क्षुद्र ज्ञान,
बिना सिर-चकराये देखो
इस महान् अद्भुत को
और बन जाओ
विश्वप्रेम के मकरन्द से मधुराद्र।
करोड़ों बिम्बों का—
उठाने-सुलानेवाले,
करोड़ों बिम्बों का
जगाने-दुलरानेवाले,
सुस्थिर वात्सल्य की भावना से
सुस्पन्दित रहनेवाले अपने हृदय में
जिसने मुझे स्थान दिया
उस महान् कारुण्य की
जय हो।

जिसने
अपनी भावना के उज्ज्वल प्रकाश से
समस्त ग्रह-समूहों का
नक्षत्र-यूथों का, सूर्य चन्द्रों का निर्माण किया
उसी सर्गात्मक भावना की सृजन शक्ति ने
अपनी सृष्टि को प्रतिक्षण नवीनतम बनाने की इच्छा से
जल में, थल में और आकाश में
अत्यन्त उन्मेष के साथ

अविरल गति से नये नये विविध प्रयोग प्रारम्भ किये ?
अंत में
निर्माण करके अपने आप परिपूर्ण होनेवाले अन्तरंग का
वह चरितार्थ बन गया ।
सत्य में से लावण्य को कातने
और नित्य एवं अनंतोज्ज्वल
प्रेम को बुनने में
अपने अभ्यास-परिचय से जिसने दक्षता पायी है
उस अंतरंग निर्मात्री
भावना की जय हो !

हाय, तू ने मुझमें भी
अपनी चिन्तामणि का
विन्यास किया है ।
और तू उसी में साक्षी बनकर बैठा है
सौ-सौ वर्णों से
सौ-सौ नादों में
सौ सौ उदार गंधों
और स्पर्शों से
विविध प्रकार के रसों से
तू, इस संसार की स्वाभाविक सुंदरता का लूटने के लिए
उसे सुसज्जित कर रहा है ।
हाय !
बिना धूल धूसरित हुए
बिना किणांकित बने,
मैं कैसे इस अन्तरंग की रक्षा करूँगा ! —
—जिसको तू ने
सूर्य का भी नवीन प्रभा प्रदान करने,

वर्णोज्ज्वल इन्द्रधनुष को भी
अपनी सुषमा देने
और काल से भी अधिक वेग से—
चलने का अपूर्व शक्ति प्रदान की है
उस मेरे अन्तरग को तू ही बचा ले ।
स्नाय नि श्वास के धूम म
वह कभी धूमिल न होने पाय ।
सनातन एव अनुक्षण विकस्वरशील प्रपच के
आदि कन्द ।
तुझको प्रणाम ।

अन्तरग पुष्प

मेरे हृत्स्पन्दा पर कान लगाये
तू मेरे पीछे खडा है ।
मेरी जडता धीरे धीरे
अन्तर्धान हो रही है,
तेरा स्पर्श पाकर
हर्ष-पुलकित मेरे प्राण
अपनी क्षुद्रता को भूल जाते है,
और झूम उठते हैं
जैसे कि प्रभात के शीतल मन्द पवन म
कोमल तणाकुर ।
मेरी जिज्ञासा है, शिशु
जो अक्षरा को जोड-तोडकर पढ भी नही सकती,
फिर भी,
वह तेरे इस बहु सर्गोवाले मनोमोहक महाकाव्य को—

पवित्र सुन्दरता खोज रही है ।
कृपा कर, तू उसे यही वरदान दे
कि वह सदा जागरूक होकर,
इस चमत्कारपूर्ण कथा का आस्वादन करे ।
वसुन्धरा के नि श्वासों से
सप्तपर्णी के फलों की महक छलक रही है ।
हाय, कैसी मोहक रजनी है ।
झिलमिलाते जुगनुओं के हीरक रत्न-कणों से भासुर—
नील निचोल का कनीदार किनारा
पुलकोद्गम करता हुआ
मेरे शरीर पर सरक रहा है ।
तब, क्या यह रजनी
स्व-रचित विश्वमोहन संगीत,
शान्ति और एकाग्रता की लय के अनुकूल,
टेकों और चरणों को विभक्त कर
उल्लासपूर्वक, जीव-स्थायियों को
यथास्थान लगाकर,
किसी मनचाहे राग मे
स्वरलिपियाँ रचने,
स्वय आलापने और स्वय मे विसर्जित करने के लिए
नक्षत्रों की सकेत लिपि मे
अंकित करने का आरम्भ तो नही कर रही है !
हे देवि रजनी !
आलाप करो
नित्य नूतन, विश्वानन्दभावित, मूक उदात्त राग ।
प्रसुप्त वसुधा के मुग्ध स्वप्न-से प्रफुल्लित सुमनों म और—
कवि की स्निग्ध भावना मे
आर्द्रता, मधुरिमा तथा सतत विश्राम एव सचरण

उत्पन्न करता हुआ, वह सदा गूँजता ही रहे।
सामने वह कैसी अपारता को
अनावृत कर रहा है,
मेरी यह क्षुद्र अहन्ता
तुहिन-कणिका सी मिट रही है।
यदि मेरे नेत्रों की दर्शन-क्षमता
हजारों-लाखों गुना बढ़ जाये
तब ही तो मैं देख सकता हूँ
इस महाकाश को विद्युत विकस्वर सीमा के
किसी छोटे-से कोने में बिखरी हुई
विचित्र सगचेतना का कुछ अंश,
आश्चर्य से स्तब्ध होकर,
अपने ग्रह-उपग्रह रूपी परिवार के साथ
सम्पन्न प्रताप करोड़ों सूर्य
जिसके दरबार में
सोपचार, सभय सम्मिलित होते हैं,
जिसके सामने
मनोहारिणी उषाएँ
आज्ञाधीन होकर नर्तन करती हैं,
जिसकी आज्ञा को
जन्म मरण रूपी प्रहरी
सिर झुकाकर स्वीकार कर लेते हैं,
काश!
अपने हृदय डमरू को बजाते गाते
इस 'गोपुर' के द्वार पर
खड़े रहने की अनुज्ञा मुझे मिल जाये,
जब तक कि मैं उस महा प्रभाव को
देखकर तृप्त न हो जाऊँ।

हे देवि,
रजनि । तुम जाओ,
विलीन हो जाऊँ मैं
तुम्हारे पावन, गान में ।
प्राश । तुम्हारे विश्वध्यान की अनुपम विपुलता को लेकर
मेरा वाङ्मय प्रफुल्लित हो जाता ।
वन्य चम्पक प्रसून के भीतर
सोते हुए सौरभ्य को
आद्र-सौम्य स्पर्शों से जगानेवाले वात्सल्य ।
तुम मेरी अन्तरात्मा के भीतर
सोती हुई मुग्ध कल्पनाओं को जगा दो ।
मेरे नयनों में
यह कैसी अपारता तू ने खोल दी ,
आह ! कैसा अपूर्व, कैसा लावण्य परिपूर्ण है यह दृश्य ।
हे दूर !
तुझको प्रणाम,
हे अन्धकार !
तुमको भी मेरा सादर प्रणाम,
प्रतिभा के इस मोहक ससार में
दूरी में निकटता है,
और निकटता में दूरी ।
दूरी को ठीक ठीक आंक,
गहरे नीले आवरण से प्रकाश को मर्यादित रूप से टँक
अन्तरंग के छाया-ग्राहक फलक पर

यदि हो हममें थोड़ी-सी विनय
और, शम् शुद्ध चिद्वृत्ति को बढ़ाने का अभ्यास—
तो
इस महाविश्व सत्यगाथा के सृजन में
एक वृन्द चरण हम भी या जोड़ सकते हैं—
'सनातन एव अनुक्षण विकस्वर शील सुन्दर प्रपंच के
आदिकन्द ! तुझको प्रणाम !'
उसके अत्यन्त लोल पक्ष के कोने पर
मैं अपने को भी बैठा हुआ देख रहा हूँ,
इसी में रहता है
मर्त्य, अणुभेद-कोविद !
अत्यन्त गर्वमय—
कैसा अभिमान !
इसी में रहता है
मर्त्य विश्व के राजदण्ड को हस्तगत करने में उद्यत,
कैसी धृष्टता !
इसी में बोल रहा है मर्त्य
जैसे देखा है उसने विश्व का सत्य आमूलाग्र !
कैसी चपलता !
इसी में निवास कर रहा है
क्रान्त दर्शिता का स्वाँग भरनेवाला प्रतिभावान्—
कैसा उद्धत अज्ञान !
ईश्वर के पुत्र,
ईश्वर के प्रतिपुरुष,
ईश्वर के संरक्षक,
और ईश्वर के ध्वंसक !
इस नन्हीं सी तितली के पर कितने मुखर हैं,
शायद यह सोचकर तारे मुसकान विभोर हैं।

मैंने साहंकार यह लेखनी उठायी थी,
अब कम्पित हो सिर झुकाकर नीचे रखता हूँ ।
यह धरती
एक अनाडी घुमक्कड जिप्सी है,
उसकी झोली मे मैं बैठा हुआ हूँ ।
जब चिन्मय बालक ने
अपना नन्हा सा मुँह खोला
तो एक धन्यजन्मा गोपिका
इस महाविश्वाकार, श्रीकर मनोहर को देखकर
हर्ष एव आश्चर्य से भरी,
विमूक होकर क्षण भर खडी रह गयी ।
मेरी विवश जिज्ञासा भी खडी है
उसी भाँति
अर्चना यही है कि
सामने जो सत्य दृष्टिगोचर है—
वह अन्तर्धान न हो ।

—१९५९]

पाणनार[1]

हे तिरवरुड्ड[2] के
पुरातन पाणनार,
तुम फिर से इस संसार की ओर आ जाओ
लेकर
अपने धड़कते हुए हृदय में
सर्वोदय संगीत
प्रबोध चेतना के स्पंदनों से भरा,
और लेकर
अपने सुगठित हाथों में
नवीन सृष्टि के उल्लास से भरा डमरू।
हे तिरवरुड्ड पुरातन पाणनार,
तुम फिर से इस संसार की ओर
आ जाओ।

सुना है
एक बार शक्ति मदोन्मत्त देवगण
अलस सुख भोग में डूबे,
कवि बुध की परिपूर्ण मूरत
दीन मलिन बन गये।

---

१. केरल में प्रचलित एक प्रसिद्ध कवि-महात्मा थे।
२ [illegible]

सब जगह
कलह का सन्दर्भ सर्जित करने के लिए
वह शांतिहीन देवमुनि
भटकता फिरा।
अपने को भी भूलकर
वह परम पुरुष विश्वात्मा
वेदों के परदे के उस पार
सोता रहा।
अनादि चैतन्य प्रक्षीण हुआ,
संसार स्वयं स्वप्नप्राय हुआ
और कर्म जड़ बन गया,
प्रलय के कगारे पर खड़ा खड़ा
परम साक्षी भी स्वयं
अलस निद्रा में ऊँघने लगा।

विश्व विनाश का यह आरम्भ जब देखा
तो विरंचि घबरा गये।
ब्रह्मा ने आदेश दिया
'तुरन्त प्रपंचात्मा को जगाना चाहिए,
इस हेतु पूरा प्रयत्न करना चाहिए'—
आठों दिशाओं को चौंका देनेवाले गम्भीर शब्दों में
चण्डवात ने स्तुति गीत गाये,
स्वर्ग प्रकम्पित करनेवाले शब्दों में
समुद्र ने नगाड़े बजाये,
तब,
अत्यन्त समीप जाकर
पृथ्वी ने उसे हिलाया-डुलाया।

'मेरे ऊपर ही इन्ह विशेष प्रेम है'—
पृथ्वी के प्रति सपत्नी का सहज ईर्ष्यालु भाव रखनेवाली
लक्ष्मी देवी ने
चटुल कटाक्ष के साथ
रुँधे हुए गले से
अपने पति को पुकारा,
किन्तु, परम पुरुष ने
अपनी आँखें नहीं खोली।
—हाय, अब कौन देव को जगा सकता है ?

जब विश्व विनाश का आरम्भ देखा
तो विरचि घबरा गये,
तब अक्षर स्वरूपिणी वाणी देवी
स्वय सचिन्त्य बोली
'तिरुवरड्ड म एक श्रेष्ठ कवि है,
स्वामिन् तुम उसी पाणनार को बुला भेजो।
जब वह अपनी सृष्टि-स्थिति-लय युक्त
करागुलिया से
डमरू के हृदय म से
अकस्मात् नादवीचिया को जगायेगा
तो उदात्त अनुभूति से प्रेरित होकर
वह चिदानन्दात्मक, अपनी आँख खोल देगा।
जब कवि बुलायेगा तो
निस्सन्देह,
विश्वात्मा, अत्यन्त साश्चय जाग उठेगा।
तिरुवरड्ड म जो वह श्रेष्ठ कवि है,
प्रभु ! तुम उस पाणनार को बुलाओ।'

हे तिरवरङ्ट के पुरातन पाणनार
तुम फिर से इस ससार मे लौट आओ,
जहाँ देवगण पराजित हुए
वहाँ आप विजयी हुए।
आपने विशाल काल के मध्यभाग से
डमरु बनाया,
रवि शशियो को
बनाया उसके दोनो वतुल पार्श्व भाग,
दिन-रैन की दुरगी डोरिया बाध दी,
जब अपने हाथ मे उठाया आपने डमरु
तो सन्ध्याएँ झालर सी उस पर लटकने लगी,
प्रकाश की डारियो से बने
गोल, निमल तारक, उस पर झूलने लगे।

हे कवे,
तुमने परम पुरुष भगवान् की सन्निधि मे
खडे होकर
इस तरह डमरु बजाया कि
युगों से युगान्तरो की ओर
उसकी गम्भीर ध्वनि गूँज गयी।
कोमल की वाणी से भी अधिक मधुर स्वर में
जब तुमने अपने जागरण गीत का चरण
आधा गाया—तो ऊपर के सातो लोक
उसके आरोह स्वर बन गये
और जब शेष आधा गाया तो
नीचे के सातो लोक उसके अवरोह स्वर बन गये।
—उस प्रबोध गीत को सुनकर

शिवताण्डव

सन्ध्या वेला मे
विस्मय-तरल पलकें खोल मैं,
खड़ा देखता रह गया—
कमनीय नट लीला,
उस महानट की।

बिखर बिखरकर फहर रहे हैं
प्रसरित व्योमकेश,
टूट रहे हैं समलय हो,
नक्षत्र और रुद्राक्ष के हार।

डोल-डोल गति म नतन की,
लटक गयी है एक ओर—
जटा-जटित चन्द्र-रेख,
रूप मे विभोर हुई।

धूमिल गोधूली का दिवाकर
—नही मिटी है लालिमा अभी भी जिसकी
लटक रहा है खिसक खिसककर,
किये जा रहा है वह ताण्डव
आत्म विस्मत होकर
झर रही है धवल चन्द्रिका रज
भर रही है मेरे मुग्ध प्राणा को।

एक और नचिकेता

सम्भव है,
अदृश्य घूमती नीहारिका पटलिया में
नये-नये सौरयूथ
खोल रहे हों उत्सुक आह्लाद भरे नयन,
देखने शिवताण्डव को।

रजस्तमोयुक्त हो,
मग्न हो जाती है मेरी आत्मा
इस मधुर सुधा प्रवाह में—
प्रस्फुटित है सन्ध्या मल्लिका में
मेरे अन्तरंग का विस्मय।
लहरा रहा है मेरे अन्तरंग का आमोद
पवन के झकोरों में।

मैं खड़ा रह गया देखता
विस्मय तरल पलकों के साथ
सन्ध्या में
वह रौद्ररम्य विश्वरूप नर्तन
एक नयन
भूतकाल,
दूसरा
वर्तमान,
और, तीसरा—
दरोन्मीलित भविष्य,
लय स्थित, सर्गात्मक,
समुज्ज्वलित अनेक भावों से

पूरित, दयावीर, धर्मवीर रस से—
रति भाव से।
पंचभूतों के राग-आलाप पर कर रहा नृत्य
यह त्रिनयन,—
अनुस्पन्दित हो अपनी स्वच्छन्द आत्मा के
ताल, लय और सकल्पों से।
कर रही हैं विश्व-जीवन को विकस्वर प्रतिक्षण,
उसकी आठ भुजाएँ,
आठ दिशाओं में,
उसकी प्रत्येक गति व्यंजनामयी है—
भंजक नहीं भाव भंगिमा की लय का
एक लघु स्पन्द भी उसका।

जब वह,
सृजन के युगमलास्य के आह्लाद से प्रेरित हो,
अर्ध-नारीश्वर रूप में परिपूर्णता पा
विश्लिष्ट हुए बिना,
कटु मृदु, रौद्र सौम्य, तामस सात्त्विक भाव लिये
करता है चपल नृत्यलीला,
तो टूट टूट गिरते हैं
युगान्तरों के नूपुर।
प्रकट होते हैं आत्माभिव्यक्ति के
अनेकानेक रूप।
कर रही है विश्वात्मा, उन्मुक्त अट्टहास नृत्य
चरण टिका अपना—
मृत्यु के मस्तक पर।

विस्मय आक्रान्त हो

विकसित हो रहा ब्रह्माण्ड,
ताण्डव आवेग से उमडती सागर-तरगें
लौट लौट जाती हैं—
पछाड खा किनारे से ।

लयपूर्ण पदाघात के अनवरत प्रहार से
सिकुड सिकुड भूमि
पहाड का रूप ले लेती है ।
नर्तक की उत्ताल ताल
चराचर जगत् मे
जीवन स्पन्दन बन धडकनी है ।

सम्भव है, समाती हो यह ताल
किसी किसी मे अत्यन्त सूक्ष्म रूप म—
हो सकता है,
किसी म मन्द्र-गम्भीर वनकर हो स्पन्दित ।

यदि
मेर श्रवण जरा विकस्वर हाते
और सबके भीतर प्रस्पन्दित होनेवाले—
इस आदि नाद का श्रवण करते ।
यदि होता कहीं ऐसा,
तो प्राप्त करते मेरे गीत 'शकराभरण' राग को ।
और उठने ऊँचे—और ऊँचे ।
और,
आ बैठती मृत्यु भी समक्ष मेर,—
सुनने को वह गीत ।
युगतन्त्रियाँ बजाती चरण

मेरे उस गान का,
विभिन्न प्राणियों के स्वरों का
आकलन करती एक ही मूल श्रुति
मेरे घोर गान की।

विस्मय तरल पलकों के साथ
सन्ध्या में
वह कमनीय नीललोहित-नृत्य देखता हुआ
मैं खड़ा रह गया।
परिमल भरे दीर्घ निःश्वासों को थाम,
उस विशाल वक्षतल में सिर टिकाये खड़ी है
विश्लथ नीलवेणी
सहनतकी प्रकृति—
चूम रहा है
उसके भावभंगिमापूर्ण
मृदुल कपाल को
सदाशिव।
प्रफुल्लित कर रहा है
मेरे अन्तरंग की सुन्दरताओं को
यह पुरातन मिथुन।

ध्वनित हो रही है
विविध भाषाओं के रूप में
उसके हाथ में थिरक रहे
डमरू की ध्वनि।
अन्तर्निहित छन्दोमय ताल राग लय,
लगा देते हैं पंख,
जटिल शब्दों को

तब, पंख फड़फड़ा ऊपर को उठती है
मेरी क्षुद्र वाणी भी,
अनायास चली जाती है—
श्रुतियों के
पार—
दूर।
उस तेजोदीप्त नयन की
चित् प्रकाश-कणिका से
हम युक्ति की छोटी छोटी
बत्तियां जला लेते हैं।
कर्म की वीथी में
उसी बत्ती को प्रोज्ज्वलित कर
धर्म और अधर्म के चेहरे
पहचान लेते हैं।

अंतरंग प्रकाश की इसी
लघु-ज्योति को,
अल्पज्ञानी अपना कह,
प्रकट करते हैं अहम्मन्यता।
और करते हैं
तिरस्कार
तेरे महाप्रभाव का! —
असत्य का सीग भजन कर,
ले निरी खोपड़ी हाथ में,
भिक्षा यात्रा को प्रस्तुत
हे स्नेह भिक्षु रुद्र,
कापाली!
खटखटाया द्वार तुमने अंतरंग का हमारे

परछाइयाँ लम्बी हो रही है

जितनी ही आवास अवधि
बढ रही है मेरी इस घर म
उतनी ही बढती जाती है ममता इसके प्रति।
तथापि,
अब अधिक देरी नही
इसे छोड चलने मे।

उसासें भरती हुई दिशाएँ
मेरी ओर देखती हैं
इस सत्य को जानती हैं
यद्यपि मूक हैं।

कितने दिन टिक सकेगा
मेरा यह जीण शीर्ण भवन
काल के मटमैले प्रवाह के सामने
जो बढता ही रहता है प्रचण्ड वेग से ?

गिरनेवाला है यह छप्पर
किन्तु,
मै मन-ही मन मुसकरता,
उदास नयनो—
बैठा हूँ ऊपर की छत पर।

बहुत हो चुकी मरम्मत इसकी,—
अब और अधिक हानी असाध्य है।
धुआँ और गरमी खा-खाकर
हो गये ह पीतश्वेतवर्ण, छप्पर के पत्ते।

खिडकी अब भी अवश्य खुली हुई है,
किन्तु उसके शीशो पर धूल छा गयी है,
हवा और प्रकाश का आगमन कम हो गया है,
छत भी जीर्ण शीर्ण है
और,
सब कुछ को चाटकर
मिट्टी कर देनेवाली,
दीमक भी आ पहुँची है।

विभिन्न नादवाले, विभिन्न नामवाले
विभिन्न रगवाले,
वे प्रसन्नमुख, उत्साहशील अतिथि,
जो बाहरी ससार के साथ—
मेरा नाता जोड देते थे,
और मेरे अन्त पुर के कपाट
अनजाने खोल देते थे,
निवेदन कर जाते थे अपना सन्तोप-सन्ताप,
आते नही आज वे भी—
यद्यपि मैं खडा हूँ द्वार पर
स्वागताथ।

वे अतिथि—

जो भरते थे मेरे जीवन म
अनुक्षण मधुरिमा,
करते थे स्नेहालाप दयार्द्र हो
कलेजे के घावों पर।
सहानुभूति के साथ स्नेह लेप करते थे,
जो छोड नही देते थे घिरा मुझ
मेरी सीमित लघु छाया मे,
बढा देते थे जो कौतुक
अपारता के आलिंगन का
मेरे अन्तरग म,
जो लगा देते थे पख
अनवरत मेरे भावो को,
विकसित करते थे निरन्तर
मेरी भावना के क्षितिज को।
जो जगाते थे जिज्ञासा मुझमे
जीवन की आकाक्षा के साथ साथ—
आते नही आज वे भी
यद्यपि मे खडा हूँ द्वार पर
स्वागतार्थ।

अब मेरे अन्तरग म
निश्चेष्ट हो ले रहे ह झपकियाँ—
अन्धकार और प्रकाश
सुख और दु ख।
तथापि
जीवन मोह की वर्तिका
प्रज्वलित रखत है कोई

अपनी कोमल करागुलियो से
सन्ध्या की वेला मे ।
जगी हुई है जिज्ञासा—
अब भी मेरे अन्तरग मे
खटखटाती है उन दृगो को
जो बन्द पडे रहे हैं अब तक ।

जिज्ञासा है कि
पूछूँ—वह कौन है, वह कौन है ?
कौतुक है कि
पूछूँ—वह क्यो, वह क्यो ?
आदित्यमण्डल भी अन्धा बन जाता है
उस आलोक के अभाव मे,
यह जगत् ज्योतित है
उसकी रश्मियो के प्रकाश से,
पुष्प ग्रहण करते हैं रग उसी से
हँसते हैं तारे अन्धकार मे भी
उसी के प्रभाव से,
गतिमान हैं दिशाएँ
उसी की शक्ति से,
खोजते हैं प्रकाश तरगण
उसी की प्रेरणा से
कोयला भी बन जाता है हीरा
उसकी उष्णता से ।
हा यही गति है,
मूल प्रकृति के सृजन की मुख्य शक्ति ।
भरा है जिन करो ने विपुल स्नेह
जीवन की वर्तिका म,

किया है प्रोज्ज्वलित
आत्माभिव्यक्ति की लौ को।
निवेदित है उनके प्रति—
मेरा प्रणाम।

प्रतीक्षा रत, अपलक नयन
उत्कण्ठा खड़ी है अंतरंग में
अनायास बोध द्वारा जानती है—
कि, कोई पुकारेगा उसे।

हां!
आयेगा एक पथिक।
मुरली-राग, मधुर मुख वेश
जब वह मुझे पुकारेगा,
मैं चला जाऊँगा
कपाट भी न बन्द कर पाऊँगा।—
मिटता काल के पदाघात से
वह सब जो कुछ जीण शीण है
शाश्वत है यदि कुछ तो—
केवल मानसिक बंध—
जो निरालम्ब है।

जितनी ही आवास-अवधि
बट रही है मेरी इस घर म
उतनी ही बढ़ती जाती है इसके प्रति ममता मेरी
किन्तु,
इस घर के भीतर,

मैं अधिक नहीं रह सकता।
हाय!
बैठ, इस घर के भीतर,
बुनता रहा सूक्ष्म धागों से,
स्वेच्छापूर्वक, विचित्र दुशाला
अगर एक भी धागा टूटे,
तो मैं चौंक-चौंक पड़ता था—
बार-बार फैला फैलाकर,
निहारता था
अति आनन्द अनुभव करता था।
उसमें नक्षत्रों की पाँतें
चमक उठीं बेल-बूटों-सी
टँकी सुनहरी सन्ध्याएँ
उस दुशाले के छोरों पर।
चुँधियानेवाले रंगों से
काढ़ कसीदा चतुराई से
स्वर्ग और धरा भी
चित्रित थे
दुशाले के दो छोरों पर।

डुबाया उसे,
आँसुओं में घुले मन के विभिन्न रंगों में।
सूखने पर जब पाया रंग चोखा
तो गर्व का अनुभव हुआ।

विभिन्न पशु-पक्षियों,
लताओं और पर्वतों का

परछाइयाँ लम्बी हो रही हैं

चित्रित किया स्वेच्छा से
और फिर,
उस रंगीन दुशाले को
फैला दिया
धरती पर।
मृदुल उष्मता और आनन्द
प्रदान करनेवाले दुशाले ओढ
मेरी वासना आ रही है
घर से बाहर सैर करने।
सदा देखती रहती है
उस पर अंकित
मेरे नामाक्षरों को।
सोते समय भी
वह
उसे नहीं उतारती।
उस पर
पड़ने नहीं देती
हलका-सा भी दाग या सलवट।

शाखाओं और
उप शाखाओं के रूप में पनपते—
सांसारिक विषयों में
जब कभी इसका आंचल उलझ जाता था
—तो मेरा मन
दुखी हो जाता था।
उसके आंचल को छुड़ाना
मेरे लिए

अतिशय आनन्द बन गया था,
हाय !—
अब तो वह स्वय ही
मैला-कुचैला हो गया है।
उसके धागे भी नितान्त छिन्न भिन्न हो गये हैं।
जहा कही से यह जीर्ण-घिसा दिखता था
वहा
मैं नया धागा बुन देता था,
किन्तु इसी दुशाले को
लहकती हुई आग की लपटो मे
फेंककर
इस घर से बाहर होना ही पड़ता है।

कल्पना की कनक-बालियो से भरे
हवा मे झूमते केदार!
अब मैं उसासें ले लेकर
तुम्हारी ओर नही देखूंगा!
हृदय की लालिमा को
कृत्रिम रग माननेवाले पण्डित—
या वे जो निष्क्रिय रह पाते हैं
भले ही करें निन्दा मेरी—
कह इन्हें भूसी मात्र
किन्तु,
जिनके पास हैं पख
अपारता को प्रसन्न हो नापने के,
और जो जी-भर कर सकें पान—
अनादि प्रकाश ज्योति का,

वे झूम उठते हैं,
अन्त सार पूर्ण बालों के कुछ दाने चुग-चुगकर
पुलकित हो, छोड़ते हैं तान
कि उत्सवप्रद है वह उनके लिए।

अब तुरन्त ही
मैं इन खेतों को
मालिक के हाथों सौंप दूँगा।
इनमें लगे पुलक जो छविमान हैं,
उसी के दिये हुए बीजों से फूटे हैं।
अब उन्हें घर के किराये के रूप में
स्वीकार करें
कि,
उन्होंने बसाया था
मुझे इस घर में।
जिसने दिया था घर—
वही आज दे रहा है सूचना
कि मैं इसे रिक्त कर दूँ।
सम्भव है, इसे तोड़-फोड़
नया निर्माण प्रारम्भ होगा।

विविक्त शून्य आकाश की वीथी में
एकाकी
अरूप
वासना मात्र बना
भटकता रहा बहुत दिनों तक
दयनीय दशा में।

मुझ पर हुई अनुकम्पा उसकी—
ता वुलाकर
विश्व सत्कार-शाला के इस घर मे
रहने को जगह दो
—जहा सब वैभव परोसे जाते हैं।

विश्राम कुछ लम्बा हो गया।
प्रारम्भ करनी होगी अब फिर से यात्रा,
भटकते फिरने का आनन्द
पुकार रहा है अब मुझे दूरी को तरफ।
उसकी अप्रतिहत पुकार सुन
जाने क्यो—
स्थल और काल भी
उत्पन्न वेग के साथ दौड पडते हैं,
जाने किस लक्ष्य पर पहुँचने के लिए
आकाश के ये असख्य काफिले
रात दिन दौडते ही चले जा रहे हैं।

है कौन ? जो थामे रास
अदृश्य छाया मे,
दौडा रहा है काल को इस
तीव्र गति से ?
कि,
पर नहीं सकती हैं पोछा
आदित्य चन्द्र रूपी गुरो से,
उठनेवाली धलिया भी।
मैं नहीं जानता,

कि मञ्जिल कहाँ है उसकी—
तथापि
आनन्ददायक यात्रा मेरे लिए है।

मैं यहाँ आया था
निस्व बनकर
अब चला जाऊँगा—
मैं परम निस्व होकर
क्या धरा दरिद्र इतनी
कि मैं भटकता फिरूँ
भूख प्यास में ?
हूँ वही मैं,
जा रहा था 'परावास्य भवन' में,
हूँ वही मैं
जिसने सुना
'तेन त्यक्तेन भुञ्जीथा'।

तोड़ दूँगा मैं और तू का
दृढ़ बरद विभेद-जाल
विचरूँगा विमुक्त होकर
निर्भय, स्वच्छन्द।

एक सांस में करूँगा खाली
उन्माद भरी प्यालियाँ,
जो सुन्दरी उषाएँ भर भर पिलाती हैं।
चाट जाऊँगा उन्हें किनारों तक
और चला जाऊँगा।

यह विश्व—वन वीणा
मेरे हृदय म समायेगा,
जब होंगी विकम्पित काल की तन्त्रियां
तो विलोल मधुर स्वर से
झंकरित हो जायेगा।
जागेंगी असख्य स्नेह-गीतियां
उसी म से—
गूँजेंगी, अनेक मुग्ध-कल्पना की रीतियां।

है उस हाथ की उँगली, मेरी भावना
जो कर रही निक्षेप सदा,
सृष्टि के केन्द्र से तिरोहित
भाव-लय लहरियों का।

मृत्यु के फनो पर खडा
उन्मत्त नर्तन-रत जीवन
उल्लास-आनन्द मग्न हो,
अमृत-संगीत का आलाप-गान करेगा।

उसने
मुझे स्वय बुलाकर स्थान दिया है
इस घर मे निवास का।
'असत्' म से
आत्मसत्ता उपलब्ध करने के लिए,
निविड नभ के भीतर से
निर्मल प्रकाश मे पहुँचने के लिए,

मरण का मन्थन कर
अमृत प्राप्त करने के लिए।
सुनता हूँ कई युगों से,
कोई यों प्रार्थना कर रहा है—
'असतो मा सत् गमय
तमसो मा ज्योतिर्गमय
मृत्योर्मा अमृत गमय'
मैं जानता हूँ
वह किसी अन्य की नहीं
मेरी ही वाणी है।
किन्तु—
अन्दर पहुँचते ही
दृष्टिगोचर हुआ
अन्धकार—अन्धकार
नितान्त निःशब्द-अव्यक्त
अदृश्य, शून्यता
जल रही थी एक केवल
लघु वर्तिका, प्रक्षीण होकर,
बाद में पहचान पाया मैं उसे—
वह थी
मेरे ही जीवन की आद्र-रति।
क्या उसके शिखा-आलोक में
जला नहीं डाले मैंने
कितने ही मुग्ध विषयों के पंख ?
क्या नहीं किये वे तितर बितर ?
दौड़-दौड़,
खटखटाता मैं फिरा—
एक-एक द्वार।

ले हृदय में जिज्ञासाएँ
उन्मत्त, उठती, हाफती।
जैसे मा चुम्बन लेती है
नवजात प्रथम शिशु की
खुलती पलकों का,
वैसे ही चूम लिया तुष्टि से,
अपारता ने,
मेरे विस्फारित नयनों को।

बाधा मुझे समीर ने अपनी
सजीवन बाहुओं के आलिंगन में,
ज्यो आलिंगन-बद्ध कर लेता
अग्रज उस अनुज को
—जो घर लौटा है
लम्बी अवधि के बाद।
खुल गये कर्ण-पुट मेरे
उन नाना-स्वर-लहरियों से,
जो हर्षित कोलाहल ध्वनि से
होती हैं प्रवाहित घर में
जब आता नव मुख कोई
चिर प्रतीक्षा के बाद।

होठों ने किया सुस्वादन
वात्सल्य भरे जीवन मधु का,
मैं बेसुध होकर भूल गया
यात्रा की सारी गाथाएँ।
मैं रोया आनन्द विह्वल
मैं हुआ चकित औ' विस्मित,

'पाछाइयाँ लम्बी हो रही हैं

थी प्रस्तुत मेरे सम्मुख
रूप-दीप्त दिग्-देवियाँ।
मैं था विस्मय-विमुग्ध
वे मेरा निकट-वासिनियें
सजाती थीं मेरे समक्ष
अनुराग-भरे मन से
उपहार की सामग्री
विविध रूपों में।—
प्रकाश कलिकाओं से निभृत
नील रजनी का लतागृह,
उषा का उज्ज्वल उदार दर्शन—
कुंकुम केदार,
दिवस के ज्वार-भाटे में
अर्द्ध-मग्न हो जानेवाला धरातल,
प्रकाश के प्रवाह में
प्रस्पंदित होनेवाले चराचर,
हरी-हरी तरंगों के समान
ऊर्ध्वमुखी विभिन्न पर्वत श्रेणियाँ,
अपनी धुरी पर घूमनेवाली
आकाश की चकई,
काँच की मणियाँ चारों ओर
बिखराती, दौड़ती आती,
चंचल सरिताएँ।
विचित्र पंखों को फैला देनेवाली—
सौम्य सुषमाएँ,
सुगंधि के परागों को
सुरभित मूँद सम्पुट,
रंगों के इन्द्रजाल से

आच्छादित मेघ मालाएँ।
आखमिचौनी खेलनेवाली
परछाइयों की लीलास्थली तराइया,
शस्य श्यामल मनोरम केदार,
सागर का स्वच्छ दपण—
जिसमे निहारती है सन्ध्या
अपना मनोहर आकार प्रतिविम्ब
चन्द्र चन्दन तिलक
धारण करे।

विस्फारित जिज्ञासु नयन,
विकासोन्मुख हृदय,
विशाल वक्ष ताने—
सुदृढता से खडे हाने की मुद्रा!
कर्मोत्सुक हस्त!
विधि से जूझकर
उसे भी धराशायी करने का साहस।
स्वय धराशायी होने पर भी
उठकर खडी हो जानेवाली धीरता!
और—
ससार के नव निर्मित करने के सकल्प!
ऐसे उद्देश्य-भावो से पूण मानव का
दशनीय, उज्ज्वल आकार!
उस मानव से क्रुद्ध,
किन्तु भयभीत हो
तलवा चाटती, चरण छूती
पालतू बनी,

चतुर्दिक् खडी रहनेवाली प्रकृति की स्क्ष शक्तियाँ !

देख-देख, भर गयी
विस्मय से आँखें मेरी,
हो गया असमर्थ
अपनी भावना अव्यक्त रखने मे।
करता नही प्रवेश इस घर मे यदि मैं,
तो देख पाता नही दृश्यावलि यह।
अत करो स्वीकार मेरी अकृत्रिम कृतज्ञ भावना
हे उदार मन !
आँखो मे उन्माद भरनेवाले
मनोहारी वर्ण,
कानो को शीतलता प्रदान करनेवाले
मधुर मन्द्र स्वर,
फलको से आच्छादित करनेवाली
नित नवीना सुगन्ध,
भिन्न भिन्न स्वादो का प्रसार करनेवाले
सासारिक रस,
सुखद प्रतीति मे डुबोनेवाले
स्निग्ध स्पर्श,
हे मेरे मित्र गणो !
तुम कहा से आये हो ?
हे स्वय प्रभो,
स्वच्छ निसर्ग मधुर मित्रो !
आते न यदि तुम
सौहृद पूर्वक मेरे घर मे,
सहज भाव से यो अनिमन्त्रित,

अन्धा रहता मेरा जीवन
सदा बन्द और सीमित ।

तुमने मुझे जगा निद्रा से
किया प्रविष्ट विश्व-अन्तःपुर में,
खोले, विकस्वर किया तुम्हीं ने
मेरे विस्मय के नयनों को,
किया तुम्हीं ने मुझे उन्मत्त उर,
दिखा-सुनाकर,
और सुँघाकर
और छुआकर
सृष्टि-सृजन की प्रतिमा का विस्तार,
तो बन गया एक मसृण चित्र,—
मेरी दृष्टि में
यह विश्वमण्डल ।
रजस-तमस गुण से विमुक्त हो,
मेरा मन स्वच्छन्द हो गया ।
क्या भाल विधाता कवि ने
निज हाथों से मुझे छू लिया ?

उसी हाथ के मधुर स्पर्श से,
जगी मेरे मन में
सुखकर वेदना,
और प्रस्फुटित हुई उसी दिन से
सृजन की लालसा ।
तुम,

मट्टी को कभी न छूनेवाली स्मृतियो !
आयी उड उड बहुत दूर से
निज आवास के लिए बनाने मधुछत्ते,
मेरे ही भवन मे ।
तुमने संचित किया सस्कार पराग रूप मे,
परिणत किया अनुभव बिन्दुओ को
पुष्प मकरन्द मे,
हृदय मेरा उन्मेषपूर्ण हुआ
उनके आस्वाद से
आपूरित हुआ विशाल भावनाओ से ।
किन्तु,
तोड, फेक स्मृति का मधुछत्ता,
मुझे यहाँ से चलना है ।
यद्यपि—
है यह मेरी जीवन माधुरी का
सार-सर्वस्व ।
ओढे काला कम्बल,
कोई खडा है अवसर की प्रतीक्षा म
जलाकर भस्म करने को
सारे मधुछत्ते,
काल तोडता पदाघात से, उसे—
—जो जीर्ण शीर्ण है,
शाश्वत है यदि कुछ,
तो वह केवल मानस बन्ध—
जो निरालम्ब है ।

—१९६२]

चरम शृंग पर

जब ऊँघने लगता था अलस याम—
और,
होने लगता था जग का निःश्वास प्रक्षीण,
तब,
खोज में एक सजीवन-स्वर थी,
तू
अपने हृदय में डूबता उतराता था।
ऐसे में, आ बैठते थे
चटकती उँगलियों की नोक पर,
छन्द और मात्राएँ,
जो जगाये रखती थी तुझे।
हे तारक!
यदि समय आ गया है,
तो
पहुँच जा चरम शृंग पर!

रात्रि को पुलकायमान करता हुआ,
आकाश प्रांगण [illegible] सजी विश्व सभा में,
सर्वप्रथम प्रविष्ट होकर
संकुचित खड़ा रहा तू—
यद्यपि घिर गया शीघ्र ही

स्नेह के परिवेश से ।
यदि आ गया है समय
तो,
ले विदा उन सुहृदों से भी,
की थी आशा जिन्होंने
सजीवनी के एक स्वर की—
और हे तारक !
आरूढ हो जा चरम शृंग पर ।

तेरे लिए किसी लजीली ने खोला था
अपने नीले उत्तरीय का आंचल,
सुस्निग्ध मृणाल-वलय से सज्जित,
छुरा पलव छाया से,
खिसक गया था जिन पर से,
बालेन्दु वलय ।
क्षण-भर मे ले विदा,
उसे तू आलिंगन मे भरकर—
गुनगुना दे गुण गान
कन्धे पर बिखरे, नील, कुटिल कुंतल का ।

और तब,
हे तारक !
आरूढ हो जा चरम शृंग पर ।

सब ज्योतियों म अनन्य,—
अति चचल ज्योति-कला की खोज मे रत तू !
हर्षानुभूति से भीगा है,
एक लघु लहरी के अधरो पर
स्फुरित देख
उस अनन्य दुलभ स्वर को
जिसको प्राप्ति हेतु
डूबता, तिरता है तू अपने अ तरंग मे ।
हो रहा असमथ अभिव्यक्ति मे उस स्वर की—
इसलिए,
और शिथिल हो जाने से पहले विस्मय बोध के,
आरूढ हो जा चरम शृग पर,
हे तारक !
सूखने से पहले भीगी पलको के ।

विराट् विश्व के सृजनात्मक प्रयोजन म
अदृश्य रूप से निहित,—
कम्पित काल की लहरियो म प्रस्फुटित,
कमल की फुनगी पर
निर्भीक रूप से स्पदित
पराग कटोरी के झर जाने का समय
यदि आ ही गया,
तो,
प्रकाश रेणुओ को प्रकीण करता हुआ
हे तारक !

तू, चरम शृंग पर आरूढ हो जा !

हैं खोजती जिस शब्द को सब वाणियाँ,
और—
ढूँढ रहा जिसे सागर का गम्भीर हृदय भी
उलट-पुलट कर चमकीले
पत्ते स्मृति पत्र में।
उसके अन्वेषण में लगी आत्मा की
कठिन वेदना से
हृदय वर्तिका को—
जो प्रोज्ज्वलित करता है हाथ,
उसे प्रणाम कर।
जो गायन है अभी अपूर्ण—
वह गायन बनने को
हे तारक !
हो जा तू आरूढ, चरम शृंग पर।

—१९६४]